

## Chapter छह

### प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश

इस अध्याय में प्रह्लाद महाराज द्वारा अपने सहपाठियों को दिये गये उपदेशों का विवरण है। अपने सारे के सारे असुरों के पुत्र मित्रों से प्रह्लाद महाराज ने बल देकर कहा कि मानव समाज में प्रत्येक जीव को जीवन के प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक अनुभूति में रुचि लेनी चाहिए। बचपन में ही मनुष्यों को पढ़ाया जाना चाहिए कि भगवान् हर एक का आराध्यदेव है। मनुष्य को भौतिक भोग में अधिक रुचि नहीं दिखानी चाहिए, अपितु उसे आसानी से जितना भौतिक लाभ हो जाये उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। चूँकि मनुष्य की आयु अत्यल्प है, अतएव उसे अपना प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिए। यदि कोई गलती से यह सोचता है कि चलो, प्रारम्भ में भौतिक सुविधाओं को भोग लिया जाये और बुढ़ापे में कृष्ण भक्ति करेंगे तो यह गलत है। ऐसे भौतिकतावादी विचार व्यर्थ होते हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति वृद्धावस्था में आध्यात्मिक जीवन-शैली नहीं अपना सकता। अतएव मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति में (श्रवणं कीर्तनं विष्णोः) प्रवृत्त होना चाहिए। यह सभी जीवों का धर्म है। भौतिक शिक्षा प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होती है, लेकिन मानव समाज में जिस आध्यात्मिक शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है, वह दिव्य होती है। प्रह्लाद महाराज ने उस रहस्य को भी प्रकट कर दिया जिस तरह उन्होंने नारद मुनि से शिक्षा प्राप्त की थी। परम्परा को प्राप्त प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों को ग्रहण करके कोई भी आध्यात्मिक जीवन की पद्धति को समझ सकता है। इस जीवन को स्वीकार करने के लिए कोई भौतिक योग्यता नहीं चाहिए।

प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों ने उनकी बात सुन लेने के बाद उनसे पूछा कि वे किस तरह इतने विद्वान तथा उन्नत बने हैं। इस प्रकार इस अध्याय की समाप्ति होती है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।  
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यधुवमर्थदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; कौमारः—बाल्य काल में; आचरेत्—अभ्यास करे; प्राज्ञः—बुद्धिमान व्यक्ति; धर्मान्—वृत्तिपरक कर्तव्य; भागवतान्—जो भगवान् की भक्ति हैं; इह—इस जीवन में; दुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ; मनुष्यम्—मनुष्य का; जन्म—जन्म; तत्—वह; अपि—भी; अधुवम्—नश्वर; अर्थ-दम्—अर्थ से पूर्ण।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में इस मानव शरीर का उपयोग करे। यह मनुष्य-शरीर अत्यन्त दुर्लभ है और अन्य शरीरों की भाँति नाशवान् होते हुए भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन में भक्ति सम्पन्न की जा सकती है। यदि निष्ठापूर्वक किंचित भी भक्ति की जाये तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता तथा वेदाध्ययन का सारा उद्देश्य मनुष्य जीवन में भक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त करना है। अतएव वैदिक प्रणाली के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक काल से ही ब्रह्मचर्य प्रणाली चलाई जाती है, जिससे बाल्यकाल से ही—पाँच वर्ष की अवस्था से—मनुष्य अपने कर्मों को इस तरह मोड़े कि वह ढंग से पूर्णरूपेण भक्ति में प्रवृत्त हो सके। जैसी कि *भगवद्गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी मनुष्य को अत्यन्त घातक भय से बचा सकती है। वैदिक साहित्य के निर्णयों से संदर्भ न रखने के कारण आधुनिक सभ्यता मानव समाज के सदस्यों के प्रति इतनी क्रूर है कि बच्चों को ब्रह्मचारी बनने की शिक्षा देने के बजाये माताओं को शिक्षा देती है कि जनसंख्या न बढ़ने देने के लिए वे गर्भ में ही अपने बच्चों को मार दें। और यदि भाग्यवश बालक बच जाता है, तो उसे इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही शिक्षित किया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे सारे संसार में मानव समाज में जीवन की पूर्णता के प्रति रुचि का ह्रास हो रहा है। निस्सन्देह लोग कूकरों-सूकरों की भाँति जी रहे हैं और वे ८४,००,००० निम्न जीव-योनियों में देहान्तरण करने की तैयारी करके अपने मनुष्य-जीवन अवधि को व्यर्थ गंवा रहे हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को भक्ति करना सिखलाकर मानव समाज की सेवा करने के लिए उत्सुक है, जिससे मनुष्य पुनः पशु-जीवन में न जा गिरे। जैसाकि प्रह्लाद महाराज पहले कह चुके हैं *भागवत* धर्म में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्* निहित हैं। सारे स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में एवं घरों में भी सारे बच्चों तथा तरुणों को भगवान् के विषय में श्रवण करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्हें इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे *भगवद्गीता* के उपदेशों को सुनकर उन्हें अपने-अपने जीवन में उतारें और इस प्रकार भक्ति में सशक्त

बनें तथा पशु-जीवन में पतित होने के भय से मुक्त हों। इस कलियुग के लिए भागवत धर्म का अनुसरण अत्यन्त सरल बना दिया गया है। शास्त्र का कथन है—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।*

मनुष्य को केवल हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन करने की आवश्यकता है। जो भी इस महामंत्र का कीर्तन करता है उसका हृदय शुद्ध हो जाएगा और वह जन्म-मृत्यु के चक्र से बच जाएगा।

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।

यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

यथा—जिससे कि; हि—निस्सन्देह; पुरुषस्य—जीव का; इह—यहाँ; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; पाद-उपसर्पणम्—चरणकमलों के निकट आना; यत्—क्योंकि; एषः—यह; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; प्रियः—प्रिय; आत्म-ईश्वरः—आत्मा का स्वामी, परमात्मा; सुहृत्—शुभचिन्तक तथा मित्र।

यह मनुष्य-जीवन भगवद्धाम जाने का अवसर प्रदान करता है अतएव प्रत्येक जीव को, विशेष रूप से उसे जिसे मनुष्य जीवन मिला है, भगवान् विष्णु के चरणकमलों की भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। यह भक्ति स्वाभाविक है क्योंकि भगवान् विष्णु सर्वाधिक प्रिय, आत्मा के स्वामी तथा अन्य सब जीवों के शुभचिन्तक हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.२९) में भगवान् कहते हैं—

*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।*

*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥*

“साधु लोग मुझे समस्त यज्ञ तथा तपस्या का परम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी तथा हितैषी जानकर भौतिक यातनाओं से शान्ति प्राप्त करते हैं।” इन तीन तथ्यों को—कि भगवान् विष्णु ही सारी सृष्टि के मालिक हैं, वे समस्त जीवों के सर्वश्रेष्ठ हितैषी तथा हर वस्तु के परम भोक्ता हैं—समझ लेने पर मनुष्य शान्त तथा सुखी बनता है। इसी दिव्य सुख के लिए जीव ब्रह्माण्ड भर में नाना योनियों तथा विभिन्न लोकों में चक्कर लगाता रहता है, किन्तु विष्णु के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को भूल जाने के कारण उसे जन्म-जन्मन्तार कष्ट भोगना पड़ता है। अतएव मनुष्य-जीवन में शिक्षाप्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य ईश्वर या विष्णु के साथ अपने

घनिष्ठ सम्बन्ध को समझ सके। प्रत्येक जीव का ईश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह शान्तरस में भगवान् का यशोगान करे या दास्य रस में दास की भाँति विष्णु से नित्य सम्बन्ध स्थापित करके या सख्य रस में मित्र की तरह या वात्सल्य रस में माता-पिता के रूप में या माधुर्य रस में दाम्पत्य प्रेमी के रूप में रहे। ये सारे सम्बन्ध प्रेम के स्तर पर होते हैं। विष्णु हर एक के प्रेम के केन्द्र हैं, अतएव हर एक का कर्तव्य है कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे। जैसाकि भगवान् ने ( भागवत ३.२५.३८ ) कहा है— येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्। किसी भी रूप में सही, हम विष्णु से सम्बन्धित हैं, जो परम प्रिय परमात्मा, पुत्र, मित्र तथा गुरु हैं। ईश्वर के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध मनुष्य-जीवन में पुनः जागृत हो सकता है और शिक्षा का लक्ष्य भी यही होना चाहिए। निस्सन्देह, यही जीवन तथा शिक्षा की पूर्णता है।

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।

सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

सुखम्—सुख; ऐन्द्रियकम्—भौतिक इन्द्रियों के प्रसंग में; दैत्याः—दैत्य कुल में उत्पन्न मेरे मित्रों; देह-योगेन—विशेष प्रकार का शरीर होने के कारण; देहिनाम्—समस्त देहधारी जीवों का; सर्वत्र—सभी जगह ( किसी योनि में ); लभ्यते—उपलब्ध हैं; दैवात्—भाग्य से; यथा—जिस प्रकार; दुःखम्—दुख; अयत्नतः—बिना प्रयास के।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : हे दैत्य कुल में उत्पन्न मेरे मित्रों, शरीर के सम्पर्क से इन्द्रियविषयों से जो सुख अनुभव किया जाता है, वह तो किसी भी योनि में अपने विगत सकाम कर्मों के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा सुख बिना प्रयास के उसी तरह स्वतः प्राप्त होता है, जिस प्रकार हमें दुख प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सभी प्रकार के जीवन में कोई न कोई तथाकथित सुख तथा दुख लगा रहता है। कोई नहीं चाहता कि दुख आए किन्तु वह आता है। इसी प्रकार भौतिक सुख के लाभों को पाने के लिए प्रयास न करने पर भी हमें सुख स्वतः प्राप्त होता है। ये दुख-सुख किसी भी जीवन में बिना प्रयास के मिलते हैं। अतएव दुख के विरुद्ध लड़ने या सुख के लिए कठिन श्रम करने में समय तथा शक्ति का अपव्यय व्यर्थ है। मनुष्य-जीवन में हमारा एकमात्र कर्तव्य भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जागृत करना और इस प्रकार भगवद्धाम वापस जाने के लिए योग्य होना चाहिए। हमारे द्वारा भौतिक शरीर स्वीकार करते ही सुख तथा दुख आते रहते हैं। चाहे वह शरीर किसी रूप में हो हम

किसी भी दशा में ऐसे सुख-दुख से बच नहीं सकते। अतएव मनुष्य जीवन का सबसे अच्छा उपयोग भगवान् विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुनः जागृत करना है।

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।  
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

तत्—उस ( काम तथा अर्थ ) के लिए; प्रयासः—प्रयत्न; न—नहीं; कर्तव्यः—करणीय; यतः—जिससे; आयुः-व्ययः—आयु की हानि; परम्—एकमात्र या अन्ततः; न—न तो; तथा—उस तरह से; विन्दते—भोगता है; क्षेमम्—जीवन का अन्तिम लक्ष्य; मुकुन्द—भव-बन्धन से उद्धार करने वाले भगवान् के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों को।

केवल इन्द्रिय-तृप्ति या भौतिक सुख के लिए आर्थिक विकास द्वारा प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की हानि होती है और वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता। यदि कोई कृष्णभावनामृत को लक्ष्य बनाकर प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से आत्म-साक्षात्कार के आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर सकता है। आर्थिक विकास में अपने आपको संलग्न रखने से कोई ऐसा लाभ प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : हम देखते हैं कि भौतिकतावादी व्यक्ति अपना भौतिक ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए आर्थिक विकास में दिन-रात लगे रहते हैं और यदि यह मान भी लें कि वे इन प्रयत्नों से कुछ लाभ प्राप्त कर लेते हैं, तो भी इससे उनके जीवन की वास्तविक समस्या हल नहीं हो पातीं। न ही वे यह जानते हैं कि जीवन की असली समस्या क्या है। यह आध्यात्मिक शिक्षा की कमी के कारण है। इस युग में विशेष रूप से प्रत्येक व्यक्ति अंधकार में है, देहात्म-बुद्धि से युक्त है और वह आत्मा तथा उसकी आवश्यकताओं के बारे में कुछ नहीं जानता। समाज के अंधे नेताओं द्वारा गुमराह होकर लोग शरीर को ही सब कुछ मान बैठते हैं और वे शरीर को भौतिक रूप से आरामदेह बनाये रखने का प्रयास करते रहते हैं। ऐसी सभ्यता को धिक्कार है, क्योंकि यह मानवता को जीवन के वास्तविक लक्ष्य को जानने की ओर नहीं ले जाती। लोग व्यर्थ ही अपना समय तथा मानव जीवनरूपी अमूल्य उपहार नष्ट करते हैं, क्योंकि जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन नहीं करता बल्कि कुत्ते-बिल्लियों की तरह मरता है, वह अगले जन्म में पतित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मनुष्य-जीवन से निरन्तर जन्म-मृत्यु के चक्र में चला जाता है। इस प्रकार वह मनुष्य-जीवन के उस वास्तविक लाभ को खो देता है, जो कृष्णभावनाभावित होने तथा जीवन की समस्याओं को हल करने के रूप में है।

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भवमाश्रितः ।

शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

ततः—अतएव; यतेत—प्रयत्न करना चाहिए; कुशलः—बुद्धिमान मनुष्य जो जीवन के अन्तिम लक्ष्य में रुचि रखता हो; क्षेमाय—जीवन के असली लाभ के लिए या भव-बन्धन से मुक्ति के लिए; भवम् आश्रितः—जो भौतिक संसार में है; शरीरम्—शरीर; पौरुषम्—पुरुष का; यावत्—जब तक; न—नहीं; विपद्येत—असफल होता है; पुष्कलम्—हृष्ट-पुष्ट।

अतएव इस संसार में रहते हुए ( भवम् आश्रितः ) भले तथा बुरे में भेद करने में सक्षम व्यक्ति को चाहिए कि जब तक शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे और विनष्ट होने से चिन्ताग्रस्त न हो तब तक वह जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करे।

तात्पर्य : जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा है—*कौमार आचरेत् प्राज्ञः । प्राज्ञः* शब्द उस व्यक्ति को बताता है, जो अनुभवी है तथा भले-बुरे की पहचान कर सकता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए कुत्ते-बिल्ली की तरह कार्य करते हुए इस अमूल्य मानव जीवन तथा अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

इस श्लोक के *भवम् आश्रितः* के स्थान पर *भयम् आश्रितः* पाठ भी उपलब्ध है, किन्तु हम चाहे जिस पाठ का अर्थ ग्रहण करें, निष्कर्ष वही निकलता है। *भयम् आश्रितः* सूचित करता है कि भौतिकतावादी जीवन-शैली सदैव भय से पूर्ण है क्योंकि पद-पद पर संकट बना रहता है। भौतिकतावादी जीवन चिन्ता तथा भय ( *भयम्* ) से पूर्ण है। इसी प्रकार *भवम् आश्रितम्* पाठ स्वीकार करने पर *भवम्* अनावश्यक झंझट तथा समस्याओं का सूचक है। कृष्णभावनामृत के अभाव में मनुष्य *भवम्* में आ पड़ता है जहाँ वह निरन्तर जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से चिन्तित रहता है। इस तरह मनुष्य निश्चित रूप से चिन्ताग्रस्त बना रहता है। मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इस प्रकार की सामाजिक प्रणाली में विभक्त तो होना चाहिए, किन्तु हर एक व्यक्ति भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। यदि कोई भक्ति के बिना रहना चाहता है, तो उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने का कोई अर्थ नहीं निकलता। कहा जाता है *स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः*—कोई चाहे उच्चवर्ग का हो या निम्न वर्ग का, कृष्णभावनामृत के अभाव में उसका पतन निश्चित है। विज्ञ पुरुष अपने पद से च्युत होने के प्रति सदैव भयभीत रहता है। यह विधान है। मनुष्य को अपने उच्च पद से नीचे नहीं गिरना चाहिए। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य तभी तक प्राप्त किया जा सकता है जब तक शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता है। अतएव

हमें इस तरह रहना चाहिए कि हम मन तथा बुद्धि से स्वस्थ एवं पुष्ट रहें जिससे हम जीवन-लक्ष्य एवं समस्याओं से भरे हुए जीवन के बीच अन्तर कर सकें। विचारवान् व्यक्ति को उचित-अनुचित में अन्तर करना सीख कर इस तरह से कर्म करना और जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए।

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्थं चाजितात्मनः ।

निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥ ६ ॥

### शब्दार्थ

पुंसः—प्रत्येक मनुष्य के लिए; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; हि—निस्सन्देह; आयुः—आयु, उम्र; तत्—उसका; अर्धम्—आधा; च—तथा; अजित-आत्मनः—ऐसे व्यक्ति का जो अपनी इन्द्रियों का दास है; निष्फलम्—बिना लाभ के, निरर्थक; यत्—क्योंकि; असौ—वह व्यक्ति; रात्र्याम्—रात में; शेते—सोता है; अन्धम्—अज्ञान ( अपने शरीर तथा आत्मा को भूल कर ); प्रापितः—पूर्णतया प्राप्त करके; तमः—अंधकार।

प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम आयु एक सौ वर्ष है, किन्तु जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, उसकी आयु के आधे वर्ष तो रात्रि में बारह घण्टे अज्ञानवश सोने में ही बीत जाते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति की आयु केवल पचास वर्ष होती है।

तात्पर्य : चाहे ब्रह्माजी हों या एक मनुष्य अथवा एक चींटी—सभी एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं, लेकिन उनकी एक सौ वर्ष की उम्र एक दूसरे से भिन्न होती है। यह संसार सापेक्ष है, अतएव इसके काल के सापेक्ष क्षण भिन्न हैं। इस तरह ब्रह्माजी के सौ वर्ष मनुष्य के सौ वर्ष के समान नहीं होते। भगवद्गीता से हमें पता चलता है कि ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् बारह घण्टे  $४३००००० \times १०००$  वर्षों के तुल्य है ( सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद् ब्रह्मणो विदुः )। अतएव काल, व्यक्ति तथा परिस्थितियों के अनुसार वर्ष शतम् या सौ वर्ष सापेक्षतया भिन्न-भिन्न होते हैं। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है यहाँ पर दी गई गणना सामान्य लोगों के लिए सही है। यद्यपि मनुष्य की अधिक से अधिक आयु सौ वर्ष की होती है, किन्तु सोने के कारण वह अपने पचास वर्ष गँवा देता है। खाना, सोना, मैथुन तथा भय—ये चार शारीरिक आवश्यकताएँ हैं, किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना में आगे बढ़ना चाहता है उसे चाहिए कि इन कार्यकलापों में कमी करके अपने जीवन का पूरा-पूरा लाभ उठाये। इससे उसे अपनी आयु का पूर्ण सदुपयोग करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः ।

जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

मुग्धस्य—मोहग्रस्त या पूर्ण ज्ञान में न होने वाले व्यक्ति का; बाल्ये—बचपन में; कैशोरे—किशोरावस्था में; क्रीडतः—खेलते हुए; याति—बीतता है; विंशतिः—बीस वर्ष; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्त-देहस्य—ग्रस्त मनुष्य का; याति—बीत जाता है; अकल्पस्य—बिना संकल्प के क्योंकि भौतिक कार्यों के करने में असमर्थ रहता है; विंशतिः—और बीस वर्ष।

मनुष्य अपने बाल्यकाल की कोमल अवस्था में, जब सभी मोहग्रस्त होते हैं, दस वर्ष बिता देता है। इसी प्रकार किशोर अवस्था में, खेल-कूद में लगकर वह अगले दस वर्ष बिता देता है। इस प्रकार बीस वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। इसी तरह से वृद्धावस्था में जब मनुष्य अक्षम हो जाता है और वह भौतिक कार्यकलाप भी सम्पन्न नहीं कर पाता, उसमें उसके बीस वर्ष और निकल जाते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के बिना मनुष्य बीस वर्ष बाल्यावस्था तथा किशोरवस्था में तथा अन्य बीस वर्ष ऐसी वृद्धावस्था में बिताता है जब वह कोई भी भौतिक कार्य ठीक से नहीं कर पाता और इस चिन्ता से पूर्ण रहता है कि वह अपने लड़कों तथा नातियों के लिए क्या करे और अपनी सम्पत्ति की किस तरह रक्षा करे। इनमें से आधे वर्ष सोने में निकल जाते हैं। यही नहीं, शेष जीवन में से वह रात्रि में सोने में अन्य तीस वर्ष गुजार देता है। इस प्रकार जो मनुष्य जीवन के उद्देश्य को नहीं जानता तथा इस मानव स्वरूप का सदुपयोग करना नहीं जानता है, वह १०० वर्षों में से ७० वर्ष ऐसे ही गँवा देता है।

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।

शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ ८ ॥

### शब्दार्थ

दुरापूरेण—जो कभी पूरा नहीं होता; कामेन—भौतिक जगत को भोगने की प्रबल इच्छा से; मोहेन—मोह से; च—भी; बलीयसा—जो बलिष्ठ तथा दुर्जेय है; शेषम्—जीवन के बचे हुए वर्ष; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; सक्तस्य—अत्यधिक आसक्त का; प्रमत्तस्य—पागल का; अपयाति—व्यर्थ बिता देता है; हि—निस्सन्देह।

जिसके मन तथा इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं वह अतृप्त कामेच्छाओं तथा प्रबल मोह के कारण पारिवारिक जीवन में अधिकाधिक आसक्त होता जाता है। ऐसे पागल मनुष्य के जीवन के शेष वर्ष भी व्यर्थ जाते हैं, क्योंकि वह इन वर्षों में भी अपने को भक्ति में नहीं लगा सकता।

तात्पर्य : यह जीवन के सौ वर्षों का लेखा-जोखा है। यद्यपि इस युग में सामान्यतः सौ वर्ष की आयु सम्भव नहीं है, फिर भी यदि किसी को इतनी आयु मिल भी जाये तो गणना के अनुसार पचास



वर्ष सोने में व्यर्थ जाते हैं, बीस वर्ष बचपन तथा किशोरावस्था में और बीस वर्ष अशक्तता ( जरा-व्याधि ) में निकल जाते हैं। इस तरह केवल कुछ ही वर्ष बच रहते हैं लेकिन ये वर्ष भी गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त रहने से ईश्वरभावनामृत के बिना ही व्यर्थ बीत जाते हैं। अतएव मनुष्य को जीवन के प्रारम्भिक काल में पूर्ण ब्रह्मचारी बनने, फिर यदि वह गृहस्थ बनता है, तो विधि-विधानों का पालन करते हुए इन्द्रिय-निग्रह में सिद्ध बनने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करके जंगल जाना चाहिए और तब संन्यास ले लेना चाहिए। यही जीवन की पूर्णता है। जो लोग जीवन के प्रारम्भ से ही अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते ( अजितेन्द्रिय ) उन्हें केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही शिक्षित किया जाता है जैसाकि हम पाश्चात्य देशों में देख चुके हैं। इस प्रकार एक सौ वर्ष की पूरी आयु व्यर्थ और दुरुपयोग में जाती है। मृत्यु के समय जब मनुष्य दूसरे शरीर में देहान्तरण करता है, तो यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य का ही शरीर मिले। एक सौ वर्ष के अन्त में जो व्यक्ति तपस्यामय जीवन में मनुष्य की तरह कर्म नहीं करता रहता वह कूकर-सूकर या बिल्लियों के शरीर को पुनः धारण करता है। अतएव कामेच्छाओं तथा इन्द्रिय-तृप्ति का यह जीवन अत्यन्त विपदाग्रस्त है।

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।

स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

कः—कौन सा; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; पुमान्—मनुष्य; सक्तम्—अत्यधिक आसक्त; आत्मानम्—स्वयं, आत्मा; अजित-इन्द्रियः—जिसने कभी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; स्नेह-पाशैः—स्नेह की रस्सियों से; दृढैः—अत्यन्त शक्तिशाली; बद्धम्—हाथ तथा पैर बाँधा हुआ; उत्सहेत—समर्थ है; विमोचितुम्—भव-बन्धन से छुड़ाने के लिए।

ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ होने के कारण गृहस्थ जीवन से अत्यधिक आसक्त होकर अपने आपको मुक्त कर सके? आसक्त गृहस्थ अपनों ( पत्नी, बच्चे तथा अन्य सम्बन्धी ) के स्नेह-बन्धन से अत्यन्त दृढ़तापूर्वक बँधा रहता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज का पहला प्रस्ताव था—कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह—पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में अपने शरीर का उपयोग करे। धर्मान् भागवतान् का अर्थ है भगवान् के साथ सम्बन्ध पुनः जागृत करने का धार्मिक सिद्धान्त। इस कार्य के लिए साक्षात् कृष्ण

उपदेश देते हैं— *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। इस भौतिक संसार में रहते हुए हम अनेक वादों के नाम पर अनेकानेक कर्तव्यों को गढ़ते रहते हैं, किन्तु हमारा वास्तविक कर्तव्य तो अपने आपको जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त करना है। इसके लिए सर्वप्रथम भव-बन्धन से और विशेष रूप से गृहस्थ जीवन से मुक्त होना चाहिए। गृहस्थ जीवन वास्तव में भौतिकता से आसक्त व्यक्ति के लिए विधि-विधानों के अन्तर्गत इन्द्रिय-तृप्ति का एक प्रकार का लाइसेंस है। अन्यथा गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं।

गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पूर्व मनुष्य को गुरु के संरक्षण में उसके स्थान या गुरुकुल में ब्रह्मचारी के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। *ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्* (भागवत ७.१२.१)। ब्रह्मचारी को प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है कि गुरु के लाभ के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दे। ब्रह्मचारी को उपदेश दिया जाता है कि वह सभी स्त्रियों को माता कहकर घर-घर जाकर भिक्षा माँगे और जो कुछ एकत्र करे उसे वह गुरु को लाकर दे दे। इस प्रकार वह अपनी इन्द्रियों को वश में करना तथा प्रत्येक वस्तु को गुरु को समर्पित करना सीखता है। पूर्णतया प्रशिक्षित होने पर यदि वह चाहता है, तो उसे विवाह करने दिया जाता है। इस प्रकार वह सामान्य गृहस्थ नहीं होता जिसने केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना सीख लिया है। प्रशिक्षित गृहस्थ धीरे-धीरे गृहस्थ जीवन त्याग कर जंगल जा सकता है, जिससे वह आध्यात्मिक जीवन में अधिकाधिक प्रबुद्ध हो सके और अन्ततः संन्यास ले ले। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को बताया कि समस्त भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए मनुष्य को जंगल में जाना चाहिए। *हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपम्*। मनुष्य को अपना घर-बार छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह भौतिक संसार के घोर अंधकारमय भागों में नीचे जाने के लिए स्थान है। अतएव पहला उपदेश यह है कि मनुष्य अपना गृहस्थ जीवन त्याग दे (*गृहम् अन्धकूपम्*)। किन्तु यदि वह अनियंत्रित इन्द्रियों के कारण गृहस्थ जीवन के अन्धे कुएँ में बना रहना अच्छा समझता है, तो वह अपनी पत्नी, बच्चे, नौकर, घर, धन इत्यादि की प्रेम-रस्सियों से अधिकाधिक जकड़ता जाता है। ऐसे मनुष्य को भौतिक बंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतएव बच्चों को बचपन से ही उच्चकोटि का ब्रह्मचारी बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। तभी भविष्य में वे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर पाएँगे।

भगवद्धाम वापस जाने के लिए मनुष्य को भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त होना चाहिए। अतएव भक्तियोग का अर्थ है *वैराग्य विद्या*—ऐसी कला जो भौतिक भोग के प्रति अरुचि उत्पन्न करने में सहायक होती है।

*वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।*

*जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥*

“भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को अहैतुक ज्ञान तथा जगत से वैराग्य प्राप्त हो जाता है।” (भागवत १.२.७) यदि कोई जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति में लग जाता है, तो वह सरलता से *वैराग्य विद्या* या *अनासक्ति* प्राप्त करता है और *जितेन्द्रिय* अर्थात् इन्द्रियों का नियंत्रक बन जाता है। जो अपने को पूर्णरूपेण भक्ति में लगाता है, वह *गोस्वामी* या स्वामी अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी कहलाता है। गोस्वामी हुए बिना किसी को संन्यास नहीं ग्रहण करना चाहिए। इन्द्रिय-भोग की प्रबल प्रवृत्ति ही भौतिक शरीर का कारण है। बिना पूर्ण ज्ञान के भौतिक भोग से विरक्त नहीं हुआ जा सकता, किन्तु जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भगवद्धाम वापस जाने का पात्र नहीं होता।

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत्प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।

यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥ १० ॥

**शब्दार्थ**

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अर्थ-तृष्णाम्—धन अर्जित करने की प्रबल इच्छा को; विसृजेत्—त्याग सकता है; प्राणेभ्यः—जीवन की अपेक्षा; अपि—निस्सन्देह; यः—जो; ईप्सितः—अधिक वांछित; यम्—जिसको; क्रीणाति—प्राप्त करने का प्रयास करता है; असुभिः—अपने ही प्राण से; प्रेष्ठैः—अत्यन्त प्रिय; तस्करः—चोर; सेवकः—नौकर; वणिक्—व्यापारी।

धन इतना प्रिय होता है कि लोग इसे मधु से भी मीठा मानने लगते हैं, अतएव ऐसा कौन होगा जो धन संग्रह करने की तृष्णा का परित्याग कर सकता है और वह भी गृहस्थ जीवन में? चोर, व्यावसायिक नौकर (सैनिक) तथा व्यापारी अपने प्रिय प्राणों की बाजी लगाकर भी धन प्राप्त करना चाहते हैं।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में इंगित किया गया है कि धन किस तरह प्राणों से भी प्रिय हो सकता है। चोर अपने प्राणों को संकट में डाल कर धनवान के घर में धन चुराने के लिए प्रवेश करते हैं। भले ही वे अतिक्रमण के कारण बन्दूकों से मार डाले जाँय या संतरी कुत्ते उन पर आक्रमण कर दें, किन्तु फिर भी वे सेंध लगाने का प्रयत्न करते हैं। तो वे अपना जीवन संकट में क्यों डालते हैं? मात्र कुछ धन पाने

के लिए। इसी प्रकार व्यावसायिक सैनिक सेना में भर्ती होता है और वह युद्धक्षेत्र में मरने की परवाह न करके मात्र धन के लिये इस नौकरी को स्वीकार करता है। इसी प्रकार व्यापारीगण भी नावों में सवार होकर अपने प्राणों को संकट में डाल कर एक देश से दूसरे देश में जाते हैं या मोती तथा अन्य अमूल्य रत्न चुनने के लिए समुद्र के जल में गोते लगाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है और इसे सभी स्वीकार करेंगे कि धन मृत्यु से भी मधुर होता है। धन प्राप्त करने के लिए कुछ भी किया जा सकता है और यह उन धनी मनुष्यों पर विशेष रूप से चरितार्थ होता है, जो गृहस्थ जीवन में अत्यधिक लिप्त हैं। पूर्वकाल में उच्च जाति के सदस्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य (शूद्रों के अतिरिक्त अन्य सारे लोग) गुरुकुल में ब्रह्मचर्य तथा योगाभ्यास द्वारा वैराग्य तथा इन्द्रिय-संयम का जीवन बिताते थे। तब उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट होने दिया जाता था। फलस्वरूप ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ बड़े-बड़े राजाओं तथा सम्राटों ने गृहस्थ जीवन का परित्याग किया है। यद्यपि वे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे तथा साम्राज्यों के स्वामी थे तो भी वे अपना सारा वैभव इसीलिए छोड़ सके, क्योंकि उन्हें शुरु से ही ब्रह्मचर्य व्रत का प्रशिक्षण प्राप्त होता था। अतएव प्रह्लाद महाराज का यह उपदेश अत्यन्त अनुकूल है—

*कौमार आचरेत प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।*

*दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥*

“पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कर्मों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में अपने शरीर का उपयोग करे। यह मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है और अन्य शरीरों की भाँति नाशवान् होते हुए भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन में ही भक्ति सम्पन्न की जा सकती है। यदि निष्ठापूर्वक किंचित भी भक्ति की जाये तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है।” मानव समाज को इस उपदेश से लाभ उठाना चाहिए।

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः

सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।

सुहृत्सु तत्स्नेहसितः शिशूनां

कलाक्षरणामनुरक्तचित्तः ॥ ११ ॥

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितृर्हृदय्या

भ्रातृन्स्वसृवा पितरौ च दीनौ ।

गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च

वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ १२ ॥

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः

कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।

औपस्थ्यजैह्वं बहुमन्यमानः

कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

कथम्—कैसे; प्रियायाः—परमप्रिय पत्नी की; अनुकम्पितायाः—सदैव स्नेहिल एवं दयालु; सङ्गम्—साथ; रहस्यम्—एकान्त; रुचिरान्—अत्यन्त सुखद तथा भाने वाला; च—तथा; मन्त्रान्—उपदेश; सुहृत्सु—पत्नी तथा बच्चों को; तत्-स्नेह-सितः—उनके स्नेह से बँधा हुआ; शिशूनाम्—छोटे-छोटे बच्चों का; कल-अक्षराणाम्—तोतली बोली बोलते हुए; अनुरक्त-चित्तः—व्यक्ति जिसका मन मोहित है; पुत्रान्—बच्चों को; स्मरन्—सोचने में; ताः—उनको; दुहितृः—पुत्रियाँ ( विवाहित तथा अपनी ससुराल में रहती हुई ); हृदय्याः—हृदय में वास करने वाली; भ्रातृन्—भाइयों को; स्वसुः वा—अथवा बहिनों को; पितरौ—माता-पिता; च—तथा; दीनौ—वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक अशक्त; गृहान्—घरेलू मामले; मनोज्ञ—अत्यन्त आकर्षक; ऊरु—अत्यधिक; परिच्छदान्—साज-सामान; च—तथा; वृत्तीः—आय के महान् साधन ( उद्योग व्यापार ); च—तथा; कुल्याः—परिवार से सम्बद्ध; पशु—पशुओं ( गायों, हाथियों तथा और घरेलू पशुओं ); भृत्य—नौकर-नौकरानियों के; वर्गान्—समूहों को; त्यजेत—छोड़ सकता है; कोशः-कृत्—रेशम का कीड़ा; इव—सदृश; ईहमानः—सम्पन्न करते हुए; कर्माणि—विभिन्न कार्यकलाप; लोभात्—अतृप्त इच्छाओं के कारण; अवितृप्त-कामः—जिनकी बढ़ती हुई इच्छाएँ पूरी नहीं होती; औपस्थ्य—कर्मेन्द्रियाँ; जैह्वम्—तथा जीभ से प्राप्त आनन्द; बहु-मन्यमानः—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हुए; कथम्—कैसे; विरज्येत—त्यागने में समर्थ है; दुरन्त-मोहः—अत्यधिक मोह में होने से।

भला ऐसा मनुष्य, जो अपने परिवार के प्रति अत्यधिक स्नेहिल हो और जिसके हृदय में सदैव उनकी आकृतियाँ रहती हों, वह किस तरह उनका संग छोड़ सकता है? विशेषकर पत्नी सदैव अत्यन्त दयालु तथा सहानुभूति पूर्ण होती है और अपने पति को सदैव एकान्त में प्रसन्न करती है। भला ऐसा कौन होगा जो ऐसी प्रिय तथा स्नेहिल पत्नी की संगति का त्याग करता हो? छोटे-छोटे बालक तोतली बोली बोलते हैं, जो सुनने में अत्यन्त मधुर लगती है और उनके पिता सदैव उनके मधुर शब्दों के विषय में सोचते रहते हैं। वह भला उनका संग किस तरह छोड़ सकता है? किसी भी मनुष्य को अपने वृद्ध माता-पिता, अपने पुत्र तथा पुत्रियाँ भी अत्यन्त प्रिय होते हैं। पुत्री अपने पिता की अत्यन्त लाडली होती है और अपनी ससुराल में रहती हुई भी वह उसके मन में बसी रहती है। भला कौन है, जो इस संग को छोड़ेगा? इसके अतिरिक्त भी घर में अनेक अलंकृत साज-सामान होते हैं और अनेक पशु तथा नौकर भी रहते हैं। भला ऐसे आराम को कौन छोड़ना चाहता है? आसक्त गृहस्थ उस रेशम-कीट की तरह है, जो अपने चारों ओर धागा बुनकर अपने को बन्दी बना लेता है और फिर उससे निकल पाने में असमर्थ रहता है। केवल दो इन्द्रियों—शिशु तथा जिह्वा—की तुष्टि के लिए मनुष्य भौतिक दशाओं से बँध जाता

है। कोई इनसे कैसे बच सकता है ?

**तात्पर्य :** गृहस्थी में पहला आकर्षण सुन्दरी तथा मधुरभाषिणी पत्नी है, जो गृहस्थी के आकर्षण को बढ़ाने वाली होती है। मनुष्य को अपनी पत्नी का आनन्द दो प्रमुख इन्द्रियों से मिलता है—जीभ से तथा शिश्न से। स्त्री अत्यन्त मीठे स्वर से बोलती है। यह निश्चय ही आकर्षण है। फिर वह सुखद भोजन तैयार करती है, जिससे जीभ तृप्त होती है और जीभ तृप्त हो जाने पर जिनमें शिश्न विशेष है को बल प्राप्त होता है। इस प्रकार पत्नी मैथुन में आनन्द प्रदान करती है। गृहस्थ जीवन का अर्थ है विषयी जीवन ( *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्* )। यह सब जीभ द्वारा प्रोत्साहित है। फिर सन्तानें उत्पन्न होती हैं। बच्चा अपनी तोतली बोली से आनन्द प्रदान करता है और जब लड़के-लड़कियाँ बड़े हो जाते हैं, तो मनुष्य उनकी शिक्षा तथा विवाह में व्यस्त हो जाता है। फिर अपने माता-पिता भी होते हैं जिनकी देख-रेख करनी होती है और मनुष्य सामाजिक वातावरण में तथा अपने भाई-बहनों को प्रसन्न करने में भी लग जाता है। वह घरेलू काम-काज में इस तरह व्यस्त होता जाता है कि उन्हें छोड़ पाना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार गृहस्थी *गृहम् अन्धकूपम्*—अर्थात् वह अंधा कुआँ बन जाती है, जिसमें मनुष्य गिर जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए उसमें से निकल पाना तब तक मुश्किल रहता है जब तक कोई बलवान् मनुष्य अर्थात् गुरु उसकी सहायता न करे, क्योंकि गुरु आध्यात्मिक उपदेशों की रस्सी से पतित मनुष्य की सहायता करता है। पतित मनुष्य को चाहिए कि इस रस्सी का सहारा ले और तब गुरु या भगवान् कृष्ण उसे अंधकूप से बाहर निकाल लेंगे।

**कुटुम्बपोषाय वियन्निजायुर्**

न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।

सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा

निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥ १४ ॥

**शब्दार्थ**

कुटुम्ब—पारिवारिक सदस्यों के; पोषाय—पालन-पोषण के लिए; वियत्—इनकार करते हुए; निज-आयुः—अपनी उम्र; न—नहीं; बुध्यते—समझता है; अर्थम्—जीवन का हित या प्रयोजन; विहतम्—विनष्ट; प्रमत्तः—भौतिक परिस्थिति में पागल होकर; सर्वत्र—सभी जगह; ताप-त्रय—तीनों दुःखमय स्थितियों से ( अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक ); दुःखित—सताया जाकर; आत्मा—आत्मा; निर्विद्यते—पछताता है; न—नहीं; स्व-कुटुम्ब-रामः—परिवार का भरण-पोषण करके ही भोग भोगता है।

अत्यधिक आसक्त मनुष्य यह नहीं समझ सकता कि वह अपना बहुमूल्य जीवन अपने

परिवार के ही पालन-पोषण में व्यर्थ बिता रहा है। वह यह भी नहीं समझ पाता कि इस मनुष्य-जीवन का जो परम सत्य के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त है, उद्देश्य अदृश्य रूप से विनष्ट हो रहा है। फिर भी वह इतनी चतुरता एवं सावधानी से देखता रहता है कि दुर्व्यवस्था के कारण एक भी पाई न खोई जाए। इस प्रकार यद्यपि संसार में आसक्त व्यक्ति सदैव तीनों प्रकार के कष्ट सहता रहता है, किन्तु वह इस संसार के प्रति अरुचि उत्पन्न नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मूर्ख व्यक्ति न तो यही समझ पाता है कि मनुष्य जीवन का महत्त्व क्या है, न ही यह समझ पाता है कि वह किस तरह अपने परिवार वालों के भरण-पोषण में ही अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ बिता रहा है। वह अपनी हानि के एक छदाम की भी गणना करने में पटु होता है, लेकिन वह इतना मूर्ख होता है कि यह नहीं जानता कि वह भौतिक गणना के अनुसार कितना धन खो रहा है। चाणक्य पण्डित उदाहरण देते हैं कि जीवन का एकक्षण लाखों रुपयों से भी नहीं खरीदा जा सकता। किन्तु मूर्ख व्यक्ति ऐसे मूल्यवान जीवन को बिना यह जाने ही बिताता है कि आर्थिक गणना के अनुसार कितना जीवन व्यर्थ चला गया। यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति लागत की गणना करने और व्यापार करने में पटु होता है, किन्तु उसे इसकी अनुभूति नहीं हो पाती कि ज्ञान के अभाव में वह अपने मूल्यवान जीवन का दुरुपयोग होने दे रहा है। ऐसा व्यक्ति यद्यपि तीनों प्रकार के कष्टों को सहता रहता है, किन्तु वह भौतिकतावादी जीवन-शैली को रोक पाने के लिए बुद्धिमान नहीं होता।

वित्तेषु नित्याभिनविष्टचेता

विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।

प्रेत्येह वाथाप्यजितेन्द्रियस्त-

दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वित्तेषु—भौतिक सम्पत्ति में; नित्य-अभिनविष्ट-चेता:—जिसका मन सदैव रमा रहता है; विद्वान्—जानते हुए; च—भी; दोषम्—बुराई; पर-वित्त-हर्तुः—ठगकर या काला बाजारी से अन्यो का धन चुराने वाले का; प्रेत्य—मरने के बाद; इह—इस संसार में; वा—अथवा; अथापि—फिर भी; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण; तत्—वह; अशान्त-कामः—जिसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती, अतृप्त; हरते—चुराता है; कुटुम्बी—अपने परिवार को अत्यधिक चाहने वाला।

यदि कोई मनुष्य पारिवारिक भरण-पोषण के कर्तव्यों के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता और उसका मन सदैव इसी में डूबा रहता है कि धन का संग्रह कैसे करे। यद्यपि वह जानता रहता है कि जो अन्यो का धन लेता है उसे सरकारी

नियमों और मृत्यु के बाद यमराज के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ेगा। तो भी वह धन अर्जित करने के लिए दूसरों को धोखा देता रहता है।

तात्पर्य : आजकल विशेष रूप से लोग न तो अगले जीवन में विश्वास करते हैं, न यमराज के न्यायालय में तथा न ही पापी को मिलने वाले विविध दण्डों में। किन्तु उन्हें कम से कम इतना तो जान लेना चाहिए कि जो धन प्राप्त करने के लिए अन्यो को ठगता है, वह सरकार के नियमों द्वारा दण्डित होगा। फिर भी, लोग न तो इस जीवन के, न ही अगले जीवन के नियमों की परवाह करते हैं। कोई चाहे कितना ज्ञानी क्यों न हो वह अपने पापकर्मों को नहीं रोक पाता, यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ है।

विद्वानपीथं दनुजाः कुटुम्बं

पुष्पास्वलोकान् न कल्पते वै ।

यः स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-

स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विद्वान्—जानते हुए ( विशेष रूप से गृहस्थ जीवन में असुविधाओं को ); अपि—यद्यपि; इत्थम्—इस प्रकार; दनु-जाः—हे असुर पुत्रो; कुटुम्बम्—परिवार के सदस्य या दूर के लोग ( यथा जाति, समाज, राष्ट्र या राष्ट्रकुलों के लोग ); पुष्पान्—जीवन की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हुए; स्व-लोकाय—अपने को समझने में; न कल्पते—समर्थ नहीं होता; वै—निस्सन्देह; यः—जो; स्वीय—अपना; पारक्य—अन्यो का; विभिन्न—पृथक्; भावः—जीवन की धारणा वाला; तमः—केवल अंधकार; प्रपद्येत—प्रवेश करता है; यथा—जिस प्रकार; विमूढः—शिक्षारहित व्यक्ति या पशु जैसा।

हे मित्रों, हे असुरपुत्रो, इस भौतिक जगत में शिक्षा में अग्रणी लगने वाले व्यक्ति भी यह विचार करने की प्रवृत्ति रखते हैं “यह मेरा है और यह पराया है।” इस प्रकार वे सीमित पारिवारिक जीवन की धारणा में अपने परिवारों को जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने में लगे रहते हैं मानो अशिक्षित कुत्ते-बिल्ली हों। वे आध्यात्मिक ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते प्रत्युत वे मोहग्रस्त तथा अज्ञान से पराभूत हैं।

तात्पर्य : मानव समाज में मनुष्य को शिक्षित करने के प्रयास किये जाते हैं, किन्तु पशु-समाज में न तो ऐसी व्यवस्था है, न ही पशुओं को शिक्षित किया जा सकता है। अतएव पशुओं एवं मूर्ख मनुष्यों को विमूढ या मोहग्रस्त कहा जाता है और शिक्षित मनुष्य को विद्वान् कहते हैं। असली विद्वान् वह है, जो इस भौतिक जगत के भीतर अपनी स्थिति को समझने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, जब



सनातन गोस्वामी ने श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ली तो उनका पहला प्रश्न था 'के आमि' 'केने आमाय जारे ताप त्रय'। दूसरे शब्दों में, वे अपनी स्वाभाविक स्थिति जानना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि वे संसार के तीन प्रकार के दुख क्यों उठा रहे हैं। यह शिक्षा की विधि है। यदि कोई यह न पूछकर कि "मैं कौन हूँ? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है?" कूकरो-सूकरो की ही पशु-वृत्ति का पालन करे तो उसकी शिक्षा से क्या लाभ है? जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है जीव अपने सकाम कर्मों द्वारा रेशम के कीट की भाँति अपने ही जाल में फँसा रहता है। मूर्ख लोग सामान्यतया इस भौतिक जगत का भोग करने की प्रबल इच्छा के कारण अपने सकाम कर्म द्वारा बँधे हुए हैं। ऐसे लोग समाज, जाति तथा राष्ट्र की ओर आकृष्ट होकर अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं और मनुष्य-जन्म पाकर उसका कोई लाभ नहीं उठा पाते। विशेषकर इस कलियुग में बड़े-बड़े नेता, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा विज्ञानी मूर्खतापूर्ण कार्यों में यह सोचकर लगे हुए हैं कि "यह मेरा है और वह तुम्हारा है।" विज्ञानी नाभिकीय अस्त्रों का आविष्कार करते हैं और अपने समाज या राष्ट्र का हित-समर्थन करने के लिए बड़े-बड़े नेताओं से सहयोग करते हैं। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि वे अपने तथाकथित उच्च ज्ञान के होते हुए भी कुत्ते-बिल्लियों वाली मानसिकता से ग्रस्त होते हैं। जिस तरह बिल्लियाँ तथा कुत्ते अपने जीवन के वास्तविक हित को न जानकर अधिकाधिक अज्ञान में फँसते जाते हैं उसी प्रकार तथाकथित शिक्षित व्यक्ति जो अपने निज को या जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानता भौतिकता में अधिकाधिक मग्न होता जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज हर एक को वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए उपदेश देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि एक विशेष अवस्था को प्राप्त करने पर वह आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए संन्यास आश्रम ग्रहण करे और इस तरह मुक्त हो ले। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में विस्तार से की गई है।

यतो न कश्चित्क्व च कुत्रचिद्वा

दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।

विमोचितुं कामदृशां विहार-

क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥ १७ ॥

ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या

दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।

उपेत नारायणमादिदेवं

स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

यतः—क्योंकि; न—कभी नहीं; कश्चित्—कोई; क्व—किसी भी स्थान में; च—भी; कुत्रचित्—किसी समय; वा—अथवा; दीनः—अल्प ज्ञान वाला; स्वम्—अपना; आत्मानम्—स्वयं; अलम्—अत्यधिक; समर्थः—सशक्त; विमोचितुम्—मुक्त करने के लिए; काम-दृशाम्—कामलोलुप स्त्रियों का; विहार—विषय सुख में; क्रीडा-मृगः—खिलौना, मनोरंजन का साधन; यत्—जिसमें; निगडः—जो भव-बन्धन की जंजीर है; विसर्गः—पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तार; ततः—ऐसी परिस्थिति में; विदूरात्—दूर से ही; परिहृत्य—त्याग करके; दैत्याः—हे दैत्यों के पुत्र मेरे मित्रो; दैत्येषु—दैत्यों के मध्य; सङ्गम्—साथ; विषय-आत्म-केषु—जिन्हें इन्द्रियभोग की लत है, व्यसनी; उपेत—पास जाना चाहिए; नारायणम्—भगवान् नारायण के; आदि-देवम्—समस्त देवताओं के उद्गम; सः—वह; मुक्त-सङ्गैः—मुक्त पुरुषों की संगति द्वारा; इषितः—इच्छित; अपवर्गः—मुक्ति का मार्ग।

हे मित्रों, हे दैत्य पुत्रो, यह निश्चित है कि भगवान् के ज्ञान से विहीन कोई भी अपने को किसी काल या किसी देश में मुक्त करने में समर्थ नहीं रहा है। उल्टे, ऐसे ज्ञान-विहीन लोग भौतिक नियमों से बाँधे जाते हैं। वे वास्तव में इन्द्रियविषय में लिप्त रहते हैं और उनका लक्ष्य स्त्रियाँ होती है। निस्सन्देह, ऐसे लोग आकर्षक स्त्रियों के हाथ के खिलौने बने रहते हैं। ऐसी जीवन-धारणों के शिकार बनकर वे बच्चों, नातियों तथा पनातियों से घिरे रहते हैं और इस तरह वे भव-बन्धन की जंजीरों से जकड़े जाते हैं। जो लोग ऐसी जीवन-धारणा में बुरी तरह लिप्त रहते हैं, वे दैत्य कहलाते हैं। इसलिए यद्यपि तुम सभी दैत्यों के पुत्र हो, किन्तु ऐसे व्यक्तियों से दूर रहो और भगवान् नारायण की शरण ग्रहण करो जो समस्त देवताओं के उद्गम हैं, क्योंकि नारायण-भक्तों का चरम लक्ष्य भव-बन्धन से मुक्ति पाना है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज की दार्शनिक धारणा है कि मनुष्य को गृहस्थ जीवन के अंधकूप को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के लिए जंगल में चला जाना चाहिए। ( *हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपं वनं गतो यद्भरिमाश्रयेत* )। इस श्लोक में भी वे इसी बात पर बल दे रहे हैं। मानव समाज के इतिहास में कोई कभी या कहीं भी अपने परिवार के स्नेह तथा आसक्ति के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सका है। यहाँ तक कि जो ऊपर से बहुत पढ़े-लिखे लगते हैं उनमें भी वही पारिवारिक आसक्ति पाई जाती है। यहाँ तक कि वृद्धावस्था या अशक्तावस्था में भी वे अपने परिवारों की संगति नहीं छोड़ पाते क्योंकि वे इन्द्रिय-भोग के प्रति आसक्त रहते हैं। जैसाकि हमने कई बार व्याख्या की है—*यन् मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छम्*—तथाकथित गृहस्थ मात्र यौन सुख के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस प्रकार वे अपने को पारिवारिक जीवन की शृंखला से बद्ध रखते हैं। यही नहीं, वे

अपने बच्चों को भी इसी तरह बँधा रखना चाहते हैं। ऐसे लोग स्त्रियों के हाथ की कठपुतली बनकर संसार के गहनतम भाग में जा गिरते हैं। *अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्।* चूँकि वे अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते, अतएव वे चर्वित-चर्वण जीवन बिताते रहते हैं और संसार के घोर अंधकारयुक्त भागों में नीचे चले जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे दैत्यों की संगति छोड़कर भक्तों की संगति करे। इस प्रकार वह भवबन्धन से मुक्त हो सकेगा।

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः ।  
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अच्युतम्—कभी न गिरने वाले भगवान्; प्रीणयतः—तुष्ट करते हुए; बहु—अत्यधिक; आयासः—प्रयास; असुर-आत्म-जाः—हे असुरपुत्रों; आत्मत्वात्—सिद्ध होने के कारण; सर्व-भूतानाम्—सारेजीवों का; सिद्धत्वात्—स्थापित होने से; इह—इस संसार में; सर्वतः—सभी दिशाओं में, सभी कालों में तथा सभी दृष्टिकोणों से।

हे दैत्यपुत्रो, भगवान् नारायण ही समस्त जीवों के पिता और मूल परमात्मा हैं। फलस्वरूप उन्हें प्रसन्न करने में या किसी भी दशा में उनकी पूजा करने में बच्चे या वृद्ध को कोई अवरोध नहीं होता। जीव तथा भगवान् का अन्तःसम्बन्ध एक तथ्य है अतएव भगवान् को प्रसन्न करने में कोई कठिनाई नहीं है।

तात्पर्य : कोई यह पूछ सकता है “यह ठीक है कि मनुष्य पारिवारिक जीवन के प्रति अत्यन्त आसक्त रहता है, किन्तु यदि उसे यह जीवन छोड़कर भगवान् की सेवा में आसक्त होना है, तो उसे उतना ही प्रयास करना तथा कष्ट झेलना होगा। अतएव इस तरह कष्ट झेलकर भगवान् की सेवा में लगने से क्या लाभ?” यह वैध आपत्ति नहीं है। भगवान् *भगवद्गीता* (१४.४) में बल देकर कहते हैं—

*सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।*

*तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥*

“हे कुन्तीपुत्र! यह जान लो कि इस भौतिक प्रकृति में सारी जीवयोनियाँ जन्म द्वारा सम्भव होती हैं और मैं वीर्यदाता पिता हूँ।” भगवान् नारायण सभी जीवों के वीर्यदाता पिता हैं, क्योंकि सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं (*ममैवांशो...जीव भूतः*)। जिस प्रकार पिता तथा पुत्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होती उसी प्रकार नारायण तथा जीवों के मध्य प्राकृतिक घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनःस्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं है। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—*

यदि कोई रंचमात्र भी भक्ति करता है, तो नारायण उसे बड़े से बड़े खतरे से बचाने के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं। इसका सर्वविदित उदाहरण अजामिल है। अजामिल ने अनेक पापकर्म करके अपने को भगवान् से विलग कर लिया था और यमराज ने उसे अत्यन्त कठोर दण्ड देकर नीचा दिखाना चाहा, लेकिन उसने मृत्यु के समय नारायण का नामोच्चार किया था, जो भगवान् नारायण का उच्चार न होकर उसके पुत्र नारायण का उच्चार था तो भी वह यमराज के हाथों से बचा लिया गया। इसलिए नारायण को प्रसन्न करने में उतना प्रयत्न नहीं करना पड़ता जितना कि अपने परिवार को, जाति तथा राष्ट्र को प्रसन्न करने में। हमने देखा है कि नामी से नामी राजनीतिक नेता अपने आचरण में थोड़ी सी भी गड़बड़ी के लिए जान से मारे गये हैं। अतएव अपने समाज, परिवार, जाति तथा राष्ट्र को प्रसन्न कर पाना, अत्यन्त कठिन है, किन्तु नारायण को प्रसन्न कर पाना तनिक भी कठिन नहीं, यह अत्यन्त सरल काम है।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नारायण के साथ अपने सम्बन्ध को पुनः जागृत करे। इस दिशा में थोड़ा प्रयास करने से सफलता प्राप्त होगी जबकि अपने तथाकथित परिवार, समाज तथा राष्ट्र को अपने जीवन का बलिदान देकर भी प्रसन्न कर पाना सम्भव नहीं होगा। भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण तथा कीर्तन—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—में निहित थोड़ा प्रयास भगवान् को प्रसन्न करने में सफल बना सकता है, अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपना आशीर्वाद—*परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्*—श्रीकृष्ण संकीर्तन की जय हो कहकर दिया। यदि कोई मनुष्य जीवन का असली लाभ उठाना चाहता है, तो उसे भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए।

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु ।  
 भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥ २० ॥  
 गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा ।  
 एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥ २१ ॥  
 प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् ।  
 व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥ २२ ॥  
 केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।  
 माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पर-अवरेषु—जीवन की श्रेष्ठ या नारकीय स्थिति में; भूतेषु—जीवों में; ब्रह्म-अन्त—ब्रह्मा में समाप्त होने वाले; स्थावर-आदिषु—पेड़-पौधों जैसे अचल प्राणियों से लेकर; भौतिकेषु—भौतिक तत्त्वों में; विकारेषु—रूपान्तरों में; भूतेषु—प्रकृति के पाँच स्थूल तत्त्वों में; अथ—साथ ही; महत्सु—महत् तत्त्व में पूर्ण शक्ति; च—भी; गुणेषु—प्रकृति के गुणों से; गुण-साम्ये—भौतिक गुणों के संतुलन में; च—तथा; गुण-व्यतिकरे—प्रकृति के नियमों के असमान प्राकट्य में; तथा—और; एकः—एक; एव—एकमात्र; परः—दिव्य; हि—निस्सन्देह; आत्मा—मूल स्रोत; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—नियन्ता; अव्ययः—विकाररहित; प्रत्यक्—आन्तरिक; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा के रूप में, अपने मूल स्वाभाविक पद के द्वारा; दृश्य-रूपेण—अपने दृश्य रूपों द्वारा; च—भी; स्वयम्—स्वयं; व्याप्य—व्याप्त; व्यापक—सर्वव्यापी; निर्देश्यः—वर्णन किया जाने वाला; हि—निश्चय; अनिर्देश्यः—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ( सूक्ष्म उपस्थिति के कारण ); अविकल्पितः—बिना भेदभाव के; केवल—एकमात्र; अनुभव-आनन्द-स्वरूपः—जिसका स्वरूप आनन्द पूर्ण तथा ज्ञान से युक्त है; परम-ईश्वरः—परमेश्वर, परम शासक; मायया—माया द्वारा; अन्तर्हित—आवृत, ढका हुआ; ऐश्वर्यः—जिसका असीम ऐश्वर्य; ईयते—भूल से मान लिया जाता है; गुण-सर्गया—प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया से।

परम नियन्ता भगवान् जो अच्युत तथा अजेय हैं जीवन के विभिन्न रूपों में यथा पौधे जैसे स्थावर जीवों से लेकर प्रथम जन्मे प्राणी ब्रह्मा तक में उपस्थित हैं। वे अनेक प्रकार की भौतिक सृष्टियों में भी उपस्थित हैं तथा सारे भौतिक तत्त्वों, सम्पूर्ण भौतिक शक्ति एवं प्रकृति के तीनों गुणों ( सतो, रजो तथा तमो गुण ) के साथ-साथ अव्यक्त प्रकृति एवं मिथ्या अंहकार में भी उपस्थित हैं। एक होकर भी वे सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। वे समस्त कारणों के कारण दिव्य परमात्मा भी हैं, जो सारे जीवों के अन्तस्तल में प्रेक्षक के रूप में उपस्थित हैं। उन्हें व्याप्य तथा सर्वव्यापक परमात्मा के रूप में इंगित किया गया है, लेकिन वास्तव में उनको इंगित नहीं किया जा सकता। वे अपरिवर्तित तथा अविभाज्य हैं। वे परम सच्चिदानन्द के रूप में अनुभव किये जाते हैं। माया के आवरण से ढके होने के कारण नास्तिक को वे अविद्यमान प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् न केवल समस्त जीवों के परमात्मा के रूप में उपस्थित हैं, अपितु एकसाथ वे सारी सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हैं। वे समस्त परिस्थितियों में और सभी समय विद्यमान रहते हैं। वे ब्रह्माजी के हृदय में विद्यमान रहते हैं और कूकरों, शूकरों, वृक्षों, पौधों इत्यादि के भी अन्तस्तल में रहते हैं। वे सर्वत्र उपस्थित हैं। वे न केवल जीवों के हृदय में उपस्थित हैं अपितु भौतिक वस्तुओं में, यहाँ तक कि भौतिकविज्ञानियों द्वारा खोजे गये परमाणुओं, प्रोटॉनों तथा इलेक्ट्रॉनों में भी रहते हैं।

भगवान् तीन रूपों में उपस्थित रहते हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। चूँकि वे सर्वत्र विद्यमान हैं, अतएव उन्हें *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—ब्रह्म से परे विद्यमान कहा गया है। *भगवद्गीता* से पुष्टि होती है कि अपने ब्रह्म रूप के द्वारा कृष्ण सर्वव्याप्त हैं ( *मया ततम् इदं सर्वम्* ) लेकिन ब्रह्म कृष्ण पर आश्रित है ( *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्* )। कृष्ण के बिना ब्रह्म या परमात्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता। अतएव

भगवान् परम सत्य की चरम अनुभूति हैं। यद्यपि वे प्रत्येक हृदय के भीतर परमात्मा रूप में स्थित हैं फिर भी वे एक हैं चाहे वह व्यक्तिगत रूप में हों या सर्वव्यापी ब्रह्म के रूप में।

कृष्ण परम कारणस्वरूप हैं और जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण की है वे उनकी तथा उनकी उपस्थिति का अनुभव ब्रह्माण्ड में तथा प्रत्येक परमाणु में कर सकते हैं ( *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्* )। यह अनुभूति केवल उन भक्तों को होती है जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। अन्यो के द्वारा यह सम्भव नहीं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१४) में की है—

*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।*

*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥*

सौभाग्यशाली जीव ही भक्तिमयी प्रवृत्ति में शरणागति की विधि को स्वीकार करते हैं। अनेक लोकों में विविध योनियों में चक्कर लगाने के बाद जब मनुष्य को भक्त की कृपा से परम सत्य का असली ज्ञान होता है, तो वह भगवान् की शरण ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्ट हुआ है ( *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते* )।

दैत्यकुलों में उत्पन्न प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों ने सोचा कि ब्रह्म की अनुभूति कर पाना अत्यन्त कठिन होगा। निस्सन्देह, अनेक लोग यही बात कहते हैं, इसका हमें अनुभव है। किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ब्रह्म समस्त जीवों से घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित हैं। अतएव यदि कोई वैष्णव दर्शन को समझता है, जो यह बतलाता है कि ब्रह्म किस तरह सर्वत्र उपस्थित है और वह किस प्रकार सर्वत्र कर्म करता है, तो उसके लिए भगवान् की पूजा करना या उनकी अनुभूति करना तनिक भी कठिन नहीं है। फिर भी भगवान् की अनुभूति भक्तों की संगति से ही सम्भव है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए कहा ( *चैतन्य चरितामृत*, मध्य १९.१५१) —

*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।*

*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥*

भौतिक दशा में जीव अनेक योनियों में तथा अनेक परिस्थितियों में घूमता रहता है, किन्तु यदि वह शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आता है और भक्ति के विषय में उससे शिक्षाएँ ग्रहण करने की बुद्धिमानी

दिखाता है, तो वह ब्रह्म तथा परमात्मा के उत्स भगवान् को बिना कठिनाई के समझ सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

*अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा व्याप्तः कालो हरिः स्मृतः ।*

*प्रकृत्या तमसावृतत्वात् हरैरैश्वर्यं न ज्ञायते ॥*

भगवान् हरेक के हृदय में *अन्तर्यामी* रूप में उपस्थित हैं और शरीर से आवृत आत्मा में दृश्य होते हैं। निस्सन्देह, वे प्रत्येक काल तथा परिस्थिति में सर्वत्र हैं, लेकिन माया के आवरण से प्रच्छन्न होने के कारण सामान्य व्यक्ति को लगता है कि ईश्वर नहीं है।

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।

भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों पर; दयाम्—दया; कुरुत—दिखालाओ; सौहृदम्—मैत्री; भावम्—भाव, प्रवृत्ति; आसुरम्—असुरों का ( जो मित्रों तथा शत्रुओं को पृथक् करते हैं ); उन्मुच्य—त्याग कर; यया—जिससे; तुष्यति—प्रसन्न होता है; अधोक्षजः—भगवान् जो इन्द्रियों की अनभूति के परे है।

अतएव हे असुरों से उत्पन्न मेरे प्यारे तरुण मित्रो, तुम सब ऐसा करो कि ऐसे भगवान्, जो भौतिक ज्ञान की धारणा से परे हैं, वे तुम पर प्रसन्न हों। तुम अपनी आसुरी प्रकृति छोड़ दो और शत्रुता या द्वैत रहित होकर कर्म करो। सभी जीवों में भक्ति जगाकर उन पर दया प्रदर्शित करो और इस प्रकार उनके हितैषी बनो।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१८.५५) में भगवान् कहते हैं— *भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—मनुष्य केवल भक्ति से परमेश्वर को यथारूप में समझ सकता है। प्रह्लाद महाराज ने अन्ततः अपने असुर सहपाठियों को शिक्षा दी कि वे प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत विज्ञान का उपदेश देकर भक्ति की विधि स्वीकार करें। उपदेश देना (प्रचार करना) भगवान् की सर्वोत्तम सेवा है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के उपदेश कार्य की इस सेवा में लग जाता है उससे भगवान् तुरन्त ही अतीव प्रसन्न होते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६९) में की है— *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः*—इस संसार में न तो उससे बढ़कर प्रिय मेरा दास है, न भविष्य में कभी इससे बढ़कर प्रिय होगा। यदि कोई भगवान् के यश तथा उनकी श्रेष्ठता का उपदेश करके कृष्णभावनामृत को फैलाने का प्रयास निष्ठापूर्वक करता है, तो भले ही वह अपूर्ण रूप से शिक्षित क्यों न हो, वह भगवान् का सर्वप्रिय

दास बन जाता है। यह भक्ति है। ज्योंही शत्रु तथा मित्र का भेद-भाव किये बिना मानवता के लिए वह सेवा करता है त्योंही भगवान् प्रसन्न होते हैं और उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रत्येक व्यक्ति को उपदेश दिया है कि वह गुरु-भक्त बने और कृष्णभावनामृत का प्रचार करे ( *यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश* )। भगवान् की अनुभूति करने का यह सरलतम उपाय है। ऐसे उपदेश कार्य से उपदेशक तुष्ट होता है और जिन्हें उपदेश दिया जाता है वे भी तुष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व में शान्ति लाने की विधि यही है—

*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।*

*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमुच्छति ॥*

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के इन तीन सूत्रों को समझे कि वे परम भोक्ता हैं, कि वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं तथा वे सबों के श्रेष्ठ सुहृद तथा सखा हैं। उपदेशक को ये सत्य स्वयं समझने चाहिए और सबों को इन्हीं का उपदेश देना चाहिए। तब सारे विश्व में शान्ति रहेगी।

इस श्लोक में *सौहृदम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया लोग कृष्णभावनामृत से अनजान हैं, अतएव उनका हितैषी बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन्हें बिना किसी भेद-भाव के कृष्णभावनामृत की शिक्षा दे। चूँकि भगवान् विष्णु हर एक के अन्तस्तल में विद्यमान हैं, अतएव प्रत्येक शरीर विष्णु का मन्दिर है। मनुष्य को चाहिए कि इस ज्ञान का दुरुपयोग *दरिद्र नारायण* जैसे शब्दों के बहाने से न करे। यदि नारायण दरिद्र अर्थात् गरीब मनुष्य के घर में वास करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे दरिद्र हो गये हैं। वे सर्वत्र रहते हैं—दरिद्र के घर में और धनी के घर में भी किन्तु सभी परिस्थितियों में वे नारायण बने रहते हैं। यह सोचना कि वे निर्धन या धनी हो जाते हैं भौतिक अनुमान है। वे सदैव *षड्ऐश्वर्यपूर्ण*—अर्थात् वे सदा छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण रहते हैं।

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये

किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।

धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन

सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**

तुष्टे—तुष्ट होने पर; च—भी; तत्र—वहाँ; किम्—क्या; अलभ्यम्—अप्राप्य; अनन्ते—भगवान् में; आद्ये—समस्त वस्तुओं के अनादि स्रोत, समस्त कारणों के कारण; किम्—और क्या चाहिए; तैः—उनसे; गुण-व्यतिकरात्—प्रकृति के गुणों की क्रिया;



इह—इस संसार में; ये—जो; स्व-सिद्धाः—स्वयमेव प्राप्त; धर्म-आदयः—भौतिक उन्नति के तीन सिद्धान्त ( अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम ); किम्—क्या आवश्यकता; अगुणेन—परमेश्वर में मुक्ति के साथ; च—तथा; काङ्क्षितेन—वांछित; सारम्—सारे निचोड़; जुषाम्—स्वाद लेते हुए; चरणयोः—भगवान् के दो चरणकमल; उपगायताम्—भगवान् के गुणों का गान करने वाले; नः—हमारा।

जिन भक्तों ने समस्त कारणों के कारण, समस्त वस्तुओं के आदि स्रोत भगवान् को प्रसन्न कर लिया है उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है। भगवान् असीम आध्यात्मिक गुणों के आगार हैं। अतएव उन भक्तों के लिए जो प्रकृति के गुणों से परे हैं उन्हें धर्म, अर्थ काम, मोक्ष के सिद्धान्तों का पालन करने से क्या लाभ, क्योंकि ये तो प्रकृति के गुणों के प्रभावों के अन्तर्गत स्वतः प्राप्त हैं! हम भक्तगण सदैव भगवान् के चरणकमलों का यशोगान करते हैं अतएव हमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की याचना नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : उन्नत सभ्यता में सभी लोग धार्मिक बनने, आर्थिक दृष्टि से भलीभाँति स्थित होने, अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह तुष्ट करने एवं अन्त में मोक्ष-लाभ करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु बड़-चढ़ कर इतनी वांछा नहीं करनी चाहिए। निस्सन्देह, भक्त के लिए ये सब सहज ही प्राप्त हैं। बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है—*मुक्तिः स्वयं मुकुलितांजलि सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः।* मुक्ति तो सदैव भक्त के द्वार पर आज्ञापालन के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष भक्त की सेवा करने का अवसर पाने के लिए प्रतीक्षित रहते हैं। भक्त पहले से दिव्य पद को प्राप्त रहता है, उसे मुक्त होने के लिए किसी अतिरिक्त योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*—भक्त प्रकृति के तीनों गुणों के कर्मों एवं फलों से परे होता है, क्योंकि वह ब्रह्म पद पर स्थित होता है।

प्रह्लाद महाराज ने कहा—*अगुणेन च काङ्क्षितेन*—यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हो तो उसे धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष की परवाह नहीं रहती। अतएव दिव्य ग्रंथ *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष तो कैतव हैं, अर्थात् वे मिथ्या तथा व्यर्थ हैं। निर्मत्सराणाम्* अर्थात् जो पुरुष पृथक्तावादी भौतिक कार्यकलापों से परे हैं, जो 'मेरा' तथा 'तेरा' में कोई भेद नहीं रखते, किन्तु, भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, वे ही वास्तव में *भागवत धर्म* स्वीकार करने के योग्य हैं ( *धर्मान् भगवताम् इह* )। चूँकि वे *निर्मत्सर* हैं अर्थात् किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, अतएव वे अन्यो को, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं

को भक्त बनाना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*कांक्षते मोक्षगम् अपि सुखं नाकाङ्क्षते यथा।* भक्तगण किसी भी भौतिक सुख की आकांक्षा नहीं करते जिसमें मोक्ष से प्राप्त होने वाला सुख भी सम्मिलित है। यह *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्* कहलाता है। *कर्मी* भौतिक सुख चाहते हैं और *ज्ञानी* मोक्ष चाहते हैं, किन्तु भक्त कुछ नहीं चाहता। वह तो भगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति करके तथा सर्वत्र उपदेश द्वारा उनके गुणों का गान करके ही सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि यही उसका जीवन और प्राण है।

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग

ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।

मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं

स्वात्मार्षणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक उन्नति; कामः—संयमित इन्द्रियतृप्ति; इति—इस प्रकार; यः—जो; अभिहितः—बताये गये; त्रिवर्गः—तीन का समूह; ईक्षा—आत्म-साक्षात्कार; त्रयी—वैदिक अनुष्ठान; नय—तर्क; दमौ—तथा विधि एवं व्यवस्था की विद्या; विविधा—अनेक प्रकार; च—भी; वार्ता—वृत्तिपरक कर्तव्य या जीविका; मन्ये—मैं मानता हूँ; तत्—उनको; एतत्—वे; अखिलम्—सारा; निगमस्य—वेदों का; सत्यम्—सत्य; स्व-आत्म-अर्पणम्—अपने को पूरी तरह अर्पित कर देना; स्व-सुहृदः—अपने परम मित्र को; परमस्य—परम; पुंसः—पुरुष।

धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों को वेदों में त्रिवर्ग अर्थात् मोक्ष के तीन साधन कहा गया है। इन तीन वर्गों के अन्तर्गत ही शिक्षा तथा आत्म-साक्षात्कार, वैदिक आदेशानुसार सम्पन्न कर्मकाण्ड, विधि तथा व्यवस्था विज्ञान एवं जीविका अर्जित करने के विविध साधन आते हैं। ये तो वेदों के अध्ययन के बाह्य विषय हैं अतएव मैं उन्हें भौतिक मानता हूँ। किन्तु मैं भगवान् विष्णु के चरणकमलों में समर्पण को दिव्य मानता हूँ।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के ये उपदेश भक्ति की दिव्य स्थिति पर बल देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।” जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में पूर्णतया संलग्न

रहता है, वह तुरन्त ही दिव्य पद को प्राप्त होता है, जो कि ब्रह्मभूत अवस्था है। ऐसी शिक्षा या कार्य जो ब्रह्मभूत पद या आत्म-साक्षात्कार पद पर नहीं होता वह भौतिक माना जाता है और प्रह्लाद महाराज का कहना है कि कोई भी भौतिक वस्तु परम सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि परम सत्य आध्यात्मिक पद पर होता है। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने भी भगवद्गीता (२.४५) में की है जहाँ पर वे यह कहते हैं—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*—“वेदों में केवल तीन गुणों का वर्णन मिलता है। हे अर्जुन! इन गुणों से ऊपर उठो। इन सबसे परे होओ।” भले ही किसी के कर्मों की स्वीकृति वेदों द्वारा क्यों न मिली हो, भौतिक पद पर कर्म करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का चरम लक्ष्य तो आध्यात्मिक पद पर बने रहना है। मानव उद्देश्य यही है। सारांशतः वैदिक कर्मकाण्डों तथा आदेशों की अवमानना नहीं की जानी चाहिए, वे आध्यात्मिक पद तक पहुँचने के साधन हैं। किन्तु यदि कोई इस पद तक नहीं पहुँच पाता तो सारे वैदिक अनुष्ठान केवल समय के अपव्यय हैं। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (१.२.८) में हुई है—

*धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वक्सेनकथासु यः ।*

*नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥*

“कर्तव्य (धर्म) चाहे जिस वृत्ति के पुरुष द्वारा किये जाँय, यदि वे परमेश्वर के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पाते तो उन पर किया सारा श्रम निरर्थक है। यदि कोई दृढ़तापूर्वक धर्म के कार्यों को करता है, किन्तु यदि वह अन्ततः परमेश्वर की शरण में नहीं जाता तो उसका मोक्ष या ऊपर उठने के सारे साधन समय तथा श्रम के अपव्यय मात्र हैं।”

**ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह**

**नारायणो नरसखः किल नारदाय ।**

**एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां**

**पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् ॥ २७ ॥**

**शब्दार्थ**

ज्ञानम्—ज्ञान; तत्—वह; एतत्—यह; अमलम्—कल्मषरहित; दुरवापम्—समझ पाना कठिन ( भक्ति की कृपा के बिना ); आह—बतलाया; नारायणः—भगवान् नारायण ने; नर-सखः—सारे जीवों ( विशेषतया मनुष्यों ) के मित्र; किल—निश्चय ही; नारदाय—महर्षि नारद को; एकान्तिनाम्—उनका, जिन्होंने एकमात्र भगवान् की शरण ले रखी है; भगवतः—भगवान् का; तत्—वह ( ज्ञान ); अकिञ्चनानाम्—जिन्हें कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं चाहिए; पाद-अरविन्द—भगवान् के चरणकमलों की; रजसा—धूल से; आप्लुत—स्नात, नहाये हुए; देहिनाम्—जिनके शरीर; स्यात्—सम्भव है।

समस्त जीवों के शुभचिन्तक एवं मित्र भगवान् नारायण ने यह दिव्य ज्ञान पहले परम सन्त नारद को दिया। ऐसा ज्ञान नारद जैसे सन्त पुरुष की कृपा के बिना समझ पाना कठिन है, किन्तु जिसने भी नारद की परम्परा की शरण ले रखी है, वह इस गुह्य ज्ञान को समझ सकता है।

तात्पर्य : यहाँ यह बताया गया है कि गुह्य ज्ञान को समझ पाना अत्यन्त कठिन है फिर भी यदि शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण कर ली जाये तो इसे समझना सरल है। इस गुह्य ज्ञान का उल्लेख भगवद्गीता में भी अन्त में हुआ है जहाँ भगवान् कहते हैं—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज—* तुम सभी प्राकर के धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण ग्रहण करो। यह ज्ञान गुह्यतम है, किन्तु यदि कोई नारद की परम्परा में स्थित गुरु के माध्यम से भगवान् तक पहुँचता है, तो इसे समझा जा सकता है। प्रह्लाद महाराज असुरपुत्रों को यह बताना चाहते थे कि यद्यपि ऐसा ज्ञान केवल नारद जैसे सन्त पुरुष के द्वारा समझा जाता है, किन्तु उन्हें निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई भौतिक गुरुओं के बजाय नारद की शरण ग्रहण करता है, तो इस ज्ञान को समझना सम्भव हो जाता है। इसे समझना उच्चकुलीनता पर निर्भर नहीं है। जीव निश्चय ही आध्यात्मिक पद पर शुद्ध होता है, अतएव जो कोई गुरु की कृपा से आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर लेता है, वह गुह्य ज्ञान को भी समझ लेता है।

श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।

धर्म भागवतं शुद्धं नारदाद्देवदर्शनात् ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

श्रुतम्—सुना गया; एतत्—यह; मया—मेरे द्वारा; पूर्वम्—इसके पहले; ज्ञानम्—गुह्य ज्ञान; विज्ञान-संयुतम्—अपने व्यावहारिक सम्प्रयोग से संयुक्त; धर्मम्—दिव्य धर्म; भागवतम्—भगवान् से सम्बद्ध; शुद्धम्—शुद्ध, जिसे भौतिक कार्यों से कुछ लेना-देना नहीं है; नारदात्—महान् सन्त नारद से; देव—भगवान् का; दर्शनात्—जो सदैव दर्शन करने वाले।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : मैंने यह ज्ञान भक्ति में सदैव तल्लीन रहने वाले परम सन्त नारद से प्राप्त किया है। यह ज्ञान भागवत धर्म कहलाता है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह तर्क तथा दर्शन पर आधारित है और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त है।

श्रीदैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्लाद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम् ।

एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥ २९ ॥

बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः ।

छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विस्त्रम्भकारणम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-दैत्य-पुत्राः ऊचुः—दैत्य पुत्रों ने कहा; प्रह्लाद—हे मित्र प्रह्लाद; त्वम्—तुम; वयम्—हम सब; च—तथा; अपि—भी; न—नहीं; ऋते—सिवाय; अन्यम्—अन्य; विद्महे—जानते हैं; गुरुम्—गुरु को; एताभ्याम्—इन दोनों; गुरु-पुत्राभ्याम्—शुक्राचार्य के पुत्रों से; बालानाम्—बच्चों के; अपि—यद्यपि; हि—निस्सन्देह; ईश्वरौ—दो नियन्ता; बालस्य—बच्चों का; अन्तःपुर-स्थस्य—घर या महल के भीतर रहते हुए; महत्-सङ्गः—नारद-जैसे महापुरुष की संगति; दुरन्वयः—अत्यन्त कठिन; छिन्धि—कृपया दूर करो; नः—हमारा; संशयम्—संशय, शंका; सौम्य—हे भद्र; स्यात्—हो सके; चेत्—यदि; विस्त्रम्भ-कारणम्—तुम्हारे वचनों में श्रद्धा का कारण।

दैत्य पुत्रों ने उत्तर दिया: प्रह्लाद, न तुम और न ही हम शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क के अतिरिक्त अन्य किसी अध्यापक या गुरु को जानते हैं। अन्ततः हम बच्चे हैं और वे हमारे नियंत्रक हैं। तुम जैसे सदैव महल के भीतर रहने वाले के लिए ऐसे महापुरुष की संगति कर पाना अत्यन्त कठिन है। हे परम भद्र मित्र, क्या तुम यह बतलाओगे कि तुम्हारे लिए नारद से सुन पाना कैसे सम्भव हो सका? इस सम्बन्ध में हमारी शंका को दूर करो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत “प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश” नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।